ध्यान का स्वरूप

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

मंगल आशीर्वाद

ध्यानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते क्षणात्।

धर्मानुरागी डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल जैनदर्शन और अध्यात्म के प्रकाण्ड विद्वान हैं। उनके भाषण और लेखन दोनों ही बहुत अच्छे, आगमानुकूल ही होते हैं। उनकी कृति ध्यान का स्वरूप जिनागम के आलोक में बहुत ही अच्छी लिखी गई है, सभी को उसका अध्ययन करना चाहिए। भारिल्लजी को मेरा बहुत-बहुत आशीर्वाद है।

आचार्य जयसेन छठे-सातवें गुणस्थानवर्ती मुनिराजों की ध्यानावस्था का चित्रण करते हुए लिखते हैं कि – ''तथाहि ध्यानं ध्यानसंतानस्तथैव ध्यानचिन्ता ध्यानान्वयं सूचयति। तत्रैकाग्रयचिन्तानिरोधो ध्यानम्। तच्च शुद्धाशुद्धरूपेण द्विधा। अथ ध्यानसन्तानः कथ्यते – यत्रान्तर्मुहूर्तपर्यन्तं ध्यानं तदनन्तरमन्तर्मुहूर्तपर्यन्तं तत्त्वचिन्ता पुनरप्यन्तर्मुहूर्तपर्यन्तं ध्यानं पुनरपि ततः चिन्तेति प्रमत्ताप्रमत्तगुणस्थानवदन्तर्मुहूर्तेऽन्तर्मुहूर्ते गते सति परावर्तनमस्ति स ध्यानसन्तानो भण्यते। स च धर्मध्यानसंबंधी।'' – (आचार्य जयसेन, प्रवचनसार टीका तात्पर्यवृत्ति, गाथा १९६)

ध्यान, ध्यानसंतान, ध्यानचिन्ता और ध्यानान्वय का सूचन इसप्रकार है – उसमें एकाग्र (एक अग्र आत्मा) चिन्तानिरोध – इसी को ध्यान कहते हैं। वह ध्यान शुद्ध और अशुद्धरूप से दो प्रकार का है। अब ध्यानसन्तान का कथन किया जाता है। जहाँ अन्तर्मुहूर्त तक ध्यान, उसके बाद अन्तर्मुहूर्त तक तत्त्वचिन्तन, पुनः अन्तर्मुहूर्त तक ध्यान, फिर तत्त्वचिन्तन (प्रचिंतन-विश्राम लेकर) इस तरह प्रमत्त-अप्रमत्त छठे-सातवें गुणस्थान में अन्तर्मुहूर्त तक झूलते रहते हैं। अतः अन्तर्मुहूर्त जाने के बाद पुनः पुनः परावर्तन सहज होता रहता है। इसी को धर्मध्यान सन्तान कहते हैं।

यह ध्यान अत्यल्प समय के लिए श्रावकों को भी हो सकता है –

''तदन्येषां यथाशक्ति, मनोरोधविधायिनाम्।
एक-द्वि-त्रि-चतुः-पञ्च-षडादिक्षणगोचरम्॥''

– (आचार्य अमितगति, श्रावकाचार, १५/६)

श्रावक संस्कृति के अमर गायक आचार्य अमितगति का धर्मध्यान पर अनुभवपूर्ण कथन है कि उक्त उत्तम तीन संहननों के सिवाय अन्य हीन संहनन धारक मन को निरोध करने वालों को भी उनकी सामर्थ्य के अनुसार यथाशक्ति एक, दो, तीन, चार, पाँच, छह आदि क्षणों तक सूक्ष्म समय आत्मा में चित्त की स्थिरता होती रहती है।

अतः सभी को, श्रावकों को भी प्रतिदिन थोड़ी देर ही सही, २४ घंटे में २४ सैकण्ड ही सही, परन्तु ध्यान अवश्य करना चाहिए।

आशीर्वाद

दिनांक : २ फरवरी, २००९

शुद्धोपयोगानुरागी आचार्य विद्यानन्द मुनि

जिनागम के आलोक में –

ध्यान का स्वरूप

(राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर में दिनांक 22 मार्च 09 से 24 मार्च 09 तक आयोजित संगोष्ठी में प्रस्तुत आलेख)

लेखक :

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम.ए., पीएच.डी.

प्रकाशक

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-4, बापूनगर, जयपुर-15 (राज.)

फोन : 2707458, E-mail : ptstjaipur@yahoo.com

हिन्दी :

प्रथम दो संस्करण	:	७ हजार
(२६ जनवरी २००९ से अद्यतन)		
तृतीय संस्करण	:	३ हजार
(७ अप्रैल २००९, महावीर जयंती)		
मराठी :		
प्रथम संस्करण	:	२ हजार
(७ अप्रैल २००९, महावीर जयंती)		
गुजराती :		
प्रथम दो संस्करण	:	२ हजार
(१५ फरवरी २००९ से अबतक)		
वीतराग-विज्ञान (हिन्दी/मराठी) के अप्रेल माह के सम्पादकीय रूप में	:	१२ हजार
योग	:	२६ हजार

मूल्य : ४ रुपए

मुद्रक :
प्रिन्ट 'ओ' लैण्ड
बाईस गोदाम, जयपुर

प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करनेवाले दातारों की सूची

१. डॉ. शरद जैन एवं परिवार, शिवाजी नगर, भोपाल	१११९.००
२. श्रीमती गुणमाला सुरेशकुमारजी जैन, कुचड़ौद	५०१.००
३. श्रीमती एवं श्री सुन्दरलालजी व्हौरा, बांसवाड़ा	५०१.००
४. श्री विमलकुमारजी रठोड़िया, लकड़वास	२५१.००
५. श्रीमती जैना देवी जैन, एटा	२२१.००
६. श्रीमती त्रिशला जैन, एटा	२०१.००
७. श्रीमती सज्जनबाई जैन, जावरा	१००.००
कुल :	२८८६.००

प्रकाशकीय

(तृतीय संस्करण)

तत्त्ववेत्ता डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल की नवीनतम कृति **''ध्यान का स्वरूप : जिनागम के आलोक में''** का ७ हजार प्रतियों के दो संस्करण मात्र दो माह में समाप्त हो गये। अतः अब यह तृतीय संस्करण प्रकाशित करते हुए हमें अपार हर्ष हो रहा है।

जिसप्रकार मंत्र संक्षिप्त होता है, परन्तु उसका प्रभाव असीमित होता है; उसीप्रकार इस लघुकाय कृति में वह सबकुछ आ गया है; जो ध्यान के संदर्भ में आज की आवश्यकता है। गागर में सागर समाहित हो गया है।

मुक्ति का मूल कारण आत्मध्यान ही है। यह एक सर्वमान्य तथ्य है। इसलिए प्रत्येक आत्मार्थी को ध्यान का स्वरूप समझना अत्यन्त आवश्यक है।

जिनमंदिरों में अरहंत भगवान के जितने भी बिंब विराजमान हैं; वे सभी ध्यानमुद्रा में ही हैं। इससे यही प्रतिफलित होता है कि ध्यानावस्था ही धर्म परिणत अवस्था है। ध्यानावस्था में कोई किसी से किसी भी प्रकार की बात नहीं करता – इससे भी यही सिद्ध होता है कि ध्यानावस्था ही सर्वोत्कृष्ट अवस्था है।

जिनवाणी में ध्यान के चार भेद कहे गये हैं, उनका विषय भी अनेकानेक प्राचीन ग्रंथों में आचार्यों ने अति विस्तार के साथ लिखा है। उस विस्तार में से इस काल में अत्यधिक उपयोगी और अति आवश्यक विषय को डॉ. भारिल्ल ने इस कृति में समेटने का सफल प्रयास किया है।

इस कृति से ध्यान का महत्त्व तो समझ में आयेगा ही, साथ ही साथ ध्यान के लिए तत्त्वज्ञान का अध्ययन अनिवार्य है – यह भी स्पष्ट होगा।

राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर के भी हम आभारी हैं। यदि उनका ध्यान के स्वरूप पर व्याख्यान करने के लिए डॉ. भारिल्ल को आमंत्रण नहीं मिलता तो इस कृति के बनने की संभावना न के बराबर थी।

इस कृति को सुन्दररूप में टाइप सैटिंग करनेवाले श्री दिनेश शास्त्री बड़ामलहरा, साहित्य प्रकाशन के प्रभारी श्री अखिलजी बंसल एवं अल्पमूल्य में जन-जन तक पहुँचाने की भावना रखनेवाले दातारों के भी हम आभारी हैं। उनकी नामावली यथास्थान अंकित है।

सभी पाठक इस कृति का लाभ लेंगे ही, इस विश्वास के साथ विराम लेता हूँ।

– **ब्र. यशपाल जैन**, एम.ए.

प्रकाशनमंत्री, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर

डॉ. भारिल्ल के महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

१. समयसार : ज्ञायकभावप्रबोधिनी टीका	५०.००
२. समयसार अनुशीलन भाग-१	२५.००
३. समयसार अनुशीलन भाग-२	२०.००
४. समयसार अनुशीलन भाग-३	२०.००
५. समयसार अनुशीलन भाग-४	२०.००
६. समयसार अनुशीलन भाग-५	२५.००
७. समयसार का सार	३०.००
८. गाथा समयसार	१०.००
९. प्रवचनसार : ज्ञानज्ञेयतत्त्वप्रबोधिनी टीका	५०.००
१०. प्रवचनसार अनुशीलन भाग-१	३५.००
११. प्रवचनसार अनुशीलन भाग-२	३५.००
१२. प्रवचनसार अनुशीलन भाग-३	२५.००
१३. प्रवचनसार का सार	३०.००
१४. छहढाला का सार	१५.००
१५. ४७ शक्तियाँ और ४७ नय	८.००
१६. पंडित टोडरमल व्यक्तित्व और कर्तृत्व	२०.००
१७. परमभावप्रकाशक नयचक्र	२०.००
१८. जिनवरस्य नयचक्रम्	१०.००
१९. चिन्तन की गहराइयाँ	२०.००
२०. तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ	१५.००
२१. धर्म के दशलक्षण	१६.००
२२. क्रमबद्धपर्याय	१५.००
२३. बिखरे मोती	१६.००
२४. सत्य की खोज	२०.००
२५. अध्यात्मनवनीत	१५.००
२६. आप कुछ भी कहो	१२.००
२७. आत्मा ही है शरण	१५.००
२८. सुक्ति-सुधा	१८.००
२९. बारह भावना : एक अनुशीलन	१५.००
३०. दृष्टि का विषय	१०.००
३१. गागर में सागर	७.००
३२. पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव	१०.००
३३. णमोकार महामंत्र : एक अनुशीलन	१०.००
३४. रक्षाबन्धन और दीपावली	५.००
३५. आचार्य कुंदकुंद और उनके पंचपरमागम	५.००
३६. युगपुरुष कानजीस्वामी	५.००
३७. वीतराग-विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका	१५.००
३८. मैं कौन हूँ	५.००
३९. निमित्तोपादान	३.५०
४०. अहिंसा : महावीर की दृष्टि में	३.००
४१. मैं स्वयं भगवान हूँ	४.००
४२. ध्यान का स्वरूप	४.००
४३. रीति-नीति	३.००
४४. शाकाहार	२.५०
४५. भगवान ऋषभदेव	४.००
४६. तीर्थंकर भगवान महावीर	२.५०
४७. चैतन्य चमत्कार	४.००
४८. गोली का जवाब गाली से भी नहीं	२.००
४९. गोम्मटेश्वर बाहुबली	२.००
५०. वीतरागी व्यक्तित्व : भगवान महावीर	२.००
५१. अनेकान्त और स्याद्वाद	२.००
५२. शाश्वत तीर्थधाम सम्मेदशिखर	५.००
५३. बिन्दु में सिन्धु	२.५०
५४. पश्चात्ताप खण्डकाव्य	७.००
५५. बारह भावना एवं जिनेंद्र वंदना	२.००
५६. कुंदकुंदशतक पद्यानुवाद	२.५०
५७. शुद्धात्मशतक पद्यानुवाद	१.००
५८. समयसार पद्यानुवाद	३.००
५९. योगसार पद्यानुवाद	०.५०
६०. समयसार कलश पद्यानुवाद	३.००
६१. प्रवचनसार पद्यानुवाद	३.००
६२. द्रव्यसंग्रह पद्यानुवाद	१.००
६३. अष्टपाहुड़ पद्यानुवाद	३.००
६४. अर्चना जेबी	१.००
६५. कुंदकुंदशतक (अर्थ सहित)	१.२५
६६. शुद्धात्मशतक (अर्थ सहित)	१.००
६७. बालबोध पाठमाला भाग-२	३.००
६८. बालबोध पाठमाला भाग-३	३.००
६९. वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग-१	४.००
७०. वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग-२	४.००
७१. वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग-३	४.००
७२. तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग-१	५.००
७३. तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग-२	६.००

जिनागम के आलोक में –

ध्यान का स्वरूप

यह एक स्थापित सत्य है कि आजतक जो भी जीव आत्मा से परमात्मा बने हैं, रागी से वीतरागी बने हैं, अल्पज्ञ से सर्वज्ञ बने हैं, सांसारिक सुख-दुखों से मुक्त होकर अनंत सुखी हुए हैं; वे सभी ध्यान की अवस्था में ही हुए हैं, आत्मध्यान की अवस्था में ही हुए हैं। अत: **मुक्ति के मार्ग में आत्मध्यान की उपयोगिता असंदिग्ध है।**

जिस ध्यान से यह आत्मा परमात्मा बनता है; उस ध्यान की चर्चा सम्पूर्ण जैन समाज द्वारा एक स्वर से मान्य आचार्य उमास्वामी कृत प्राचीनतम ग्रन्थराज महाशास्त्र **तत्त्वार्थसूत्र** अपरनाम **मोक्षशास्त्र** में इसप्रकार की गई है –

''उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात्– उत्तम संहननवाले के अन्तर्मुहूर्त तक एकाग्र होकर चिन्ता का निरोध ध्यान है।''

उक्त सूत्र तत्त्वार्थसूत्र के नौवें अध्याय का २७वाँ सूत्र है और इसके बाद ४४वें सूत्र तक लगातार १८ सूत्रों में विस्तार से ध्यान की चर्चा है।

महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र पर विगत दो हजार बर्षों में विभिन्न भाषाओं में अनेकानेक टीकायें लिखी गई हैं; जिनमें संस्कृत भाषा में आचार्य पूज्यपाद देवनन्दी कृत **सर्वार्थसिद्धि**, आचार्य अकलंकदेव कृत **तत्त्वार्थ-राजवार्तिक** और आचार्य विद्यानंदी कृत **श्लोकवार्तिक** आदि प्रमुख हैं।

कहते हैं कि आचार्य समन्तभद्र ने इस महान ग्रन्थ पर **गंधहस्ति महाभाष्य** नामक एक महाभाष्य भी लिखा था; जो आज अनुपलब्ध है।

उक्त सभी टीका ग्रंथों में उक्त सूत्रों पर यद्यपि पर्याप्त प्रकाश डाला गया है; तथापि अन्तर मात्र संक्षेप व विस्तार का ही है, विषयवस्तु लगभग समान ही है।

उक्त सम्पूर्ण विषयवस्तु के आलोढन के उपरान्त जो तथ्य उभर कर सामने आते हैं; यहाँ उनके संदर्भ में इस विषय पर अनुशीलन अपेक्षित है।

उक्त सूत्र में जिस ध्यान को परिभाषित किया गया है; वह उत्तम संहननवालों के ही होता है। यद्यपि वज्रर्षभनाराच, वज्रनाराच और नाराच – इन तीन संहननों को उत्तम संहनन माना गया है; तथापि जिस ध्यान से अष्ट कर्मों का विनाश होता है, मोह-राग-द्वेष का पूर्णत: अभाव होकर पूर्ण वीतरागता प्रगट होती है, सर्वज्ञता प्राप्त होती है; वह ध्यान तो शुक्लध्यान है और वह प्रथम संहनन वज्रर्षभनाराच संहननवालों के ही होता है, चौथे काल में ही होता है; अभी इस पंचमकाल में होता ही नहीं है। उस ध्यान के आरंभ के दो पाये तो उपशमश्रेणी या क्षपकश्रेणी में होते हैं और शेष दो पाये क्रमश: तेरहवें गुणस्थान के अन्त में और चौदहवें गुणस्थान में होते हैं।

पृथक्त्ववितर्क नामक पहला शुक्लध्यान आठवें गुणस्थान में आरंभ होकर क्षपकश्रेणीवालों के दशवें गुणस्थान तक और उपशम श्रेणीवालों के ग्यारहवें गुणस्थान तक होता है। इसके निमित्त से मोहनीय कर्म का क्षय या उपशम होता है अर्थात् मोह-राग-द्वेष का अभाव होता है और एकत्ववितर्क नामक दूसरा शुक्लध्यान बारहवें गुणस्थान में होता है; उसके निमित्त से ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म का क्षय होता है।

इसप्रकार चार घातिया कर्मों का अभाव आरंभ के दो शुक्ल ध्यानों से होता है और अघातिया कर्मों का अभाव सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नामक तीसरे शुक्लध्यान और व्युपरतक्रियानिवर्ति नामक चौथे शुक्लध्यान से होता है।

इसप्रकार यह सुनिश्चित हुआ कि अरहंत और सिद्धदशा की प्राप्ति का हेतुभूत शुक्लध्यान तो इस काल में संभव ही नहीं है।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि क्या आप यह कहना चाहते हैं कि मुक्ति प्राप्ति का हेतुभूत ध्यान इस काल में होता ही नहीं है ? यदि यह बात सत्य

है तो फिर इसका आशय तो यह हुआ कि पंचम काल में मुक्तिमार्ग आरंभ ही नहीं होता।

नहीं, ऐसी बात नहीं है; क्योंकि मुक्तिमार्ग तो चौथे गुणस्थान से ही आरंभ हो जाता है। अरे भाई! अकेला शुक्लध्यान ही ध्यान नहीं है।

ध्यान चार प्रकार के होते हैं – आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान।[१] इन चारों ध्यानों में प्रत्येक ध्यान के चार-चार भेद हैं। इसप्रकार कुल मिलाकर ध्यान सोलह प्रकार के हो जाते हैं।

उक्त चार ध्यानों में आर्तध्यान और रौद्रध्यान तो संसार के कारण हैं और अन्त के दो ध्यान अर्थात् धर्मध्यान और शुक्लध्यान मुक्ति के कारण हैं।[२] इसप्रकार **यह सुनिश्चित होता है कि इस पंचमकाल में मुक्ति का हेतुभूत धर्मध्यान होता है।**

ध्यान के संदर्भ में उक्त चारों ध्यान और उनके चार-चार भेदों का सामान्यज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है; क्योंकि आज ध्यान की चर्चा तो बहुत होती है; पर उसके स्वरूप को बहुत कम लोग जानते हैं।

ध्यान-ध्यान सब कोई कहे, ध्यान न जाने कोय।
ध्यान पंथ जाने विना, ध्यान कहाँ से होय॥

१. **दुख-पीड़ारूप चिन्तवन आर्तध्यान है।** अनिष्टसंयोगज इष्टवियोगज, वेदनाजन्य और निदानज के भेद से आर्तध्यान चार प्रकार का होता है।

१. अनिष्ट पदार्थों के संयोग होने पर, उन्हें दूर करने के लिए होनेवाल प्रबल चिन्तवन **अनिष्टसंयोगज** नामक आर्तध्यान है।

२. इष्ट पदार्थों के वियोग होने पर, उन्हें प्राप्त करने के लिए होनेवाल प्रबल चिन्तवन **इष्टवियोगज** नामक आर्त्तध्यान है।

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ९, सूत्र २८
२. वही, अध्याय ९, सूत्र २९

३. वेदना अर्थात् रोगजनित पीड़ा होने पर, उसे दूर करने के लिए होनेवाला संक्लेश परिणामरूप प्रबल चिन्तवन **वेदनाजन्य** आर्त्तध्यान है।

४. भविष्यकाल संबंधी विषयों की प्राप्ति की कामना में चित्त का तल्लीन होना **निदानज** आर्त्तध्यान है।

उक्त आर्तध्यान अपनी-अपनी भूमिकानुसार पहले गुणस्थान से छठवें गुणस्थान तक होते हैं। ध्यान रहे छटवें गुणस्थान में निदान नामक आर्तध्यान नहीं होता, शेष तीन आर्तध्यान होते हैं।[१]

२. निर्दयता/क्रूरता में होनेवाले आनन्दरूप परिणामों का नाम रौद्रध्यान है। हिंसानन्दी, मृषानन्दी, चौर्यानंदी और परिग्रहानंदी के भेद से यह रौद्रध्यान भी चार प्रकार का होता है।

१. हिंसक कार्यों और भावों में आनन्दित होना, उसीप्रकार के भावों में तल्लीन रहना **हिंसानंदी रौद्रध्यान** है।

२. असत्य बोलने और बोलने के भावों में आनन्दित होकर तल्लीन रहना **मृषानन्दी रौद्रध्यान** है।

३. चोरी करने और चोरी संबंधी भावों में आनन्दित होकर तल्लीन रहना **चौर्यानन्दी रौद्रध्यान** है।

४.परिग्रह जोड़ना, जोड़ने व रक्षा करने के भावों में आनन्दित होकर तल्लीन रहना **परिग्रहानंदी रौद्रध्यान** है।

यह रौद्रध्यान अपनी-अपनी भूमिकानुसार पहले गुणस्थान से पाँचवें गुणस्थान तक होता है।

इसप्रकार यह सुनिश्चित है कि अज्ञानी और ज्ञानी – दोनों प्रकार के गृहस्थों-श्रावकों को ये दोनों ध्यान होते हैं और अपनी-अपनी भूमिकानुसार लगभग निरन्तर होते रहते हैं।

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ९, सूत्र ३१ से ३४

उक्त दोनों ध्यानों में आर्तध्यान दुखरूप है, दुखी होनेरूप है और रौद्रध्यान आनन्दरूप है, हिंसादि पापों और रागादि भावों में आनन्दरूप परिणमित होनेरूप है।

कर्मोदय से प्राप्त होनेवाले इष्टानिष्ट संयोग भी परिग्रहनामक पाप ही हैं। **अनुकूल संयोगों में आनंदित होना भी परिग्रहानन्दी रौद्रध्यान है।**

उक्त दोनों ध्यानों में अज्ञानियों के आर्तध्यान को तिर्यंचगति का और रौद्रध्यान को नरकगति का कारण माना गया है।

सोचने की बात यह है कि जब हम ध्यान के संबंध में बात करते हैं या सोचते हैं या उसकी आवश्यकता बताते हैं, ध्यान करने की प्रेरणा देते हैं, उपयोगिता समझाते हैं, आजकल होनेवाले तत्संबंधी क्रियाकलापों में जुड़ने की बात करते हैं, ध्यान का अभ्यास करने की बात करते हैं; तब **क्या हमारे ध्यान में यह बात स्पष्ट होती है कि ये आर्तध्यान और रौद्रध्यान भी ध्यान हैं तथा ये ध्यान तिर्यंच और नरकगति के बंध के कारण हैं।**

इसीप्रकार जब हम ऐसे संयोगों में घिरे होते हैं; जिन्हें हम नहीं चाहते हैं, जो हमें अनिष्ट लगते हैं, उन्हें दूर करने के या उनसे बचने के बारे में सोच रहे होते हैं; भले ही हम उन्हें न मारें, पर मर जावें तो अच्छा है – ऐसा सोच रहे होते हैं, किसी बीमारी से कष्ट में होते हैं और उसके बारे में ही सोचते रहते हैं या फिर मैंने यह अच्छा कार्य किया है, इसके फल में **मुझे धनादि की प्राप्ति हो, पुत्रादि की प्राप्ति हो, स्वर्ग की प्राप्ति हो – ऐसा सोच रहे होते हैं, तब क्या हम यह जानते हैं कि ऐसा करके हम ऐसा महापाप कर रहे हैं; जिसके फल में हमें तिर्यंचगति में जाना होगा; क्योंकि ये सब आर्तध्यान के ही रूप हैं।**

क्या आप यह भी जानते हैं कि तिर्यंच अकेले गाय-भैंस और कुत्ते-बिल्ली का ही नाम नहीं है, तिर्यंचगति में सभी प्रकार के कीड़े-मकोड़े, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति भी शामिल है। अधिक क्या कहें **निगोद भी तिर्यंचगति में ही है।**

किसी व्यक्ति या वस्तु के वियोग में दुखी होना या फिर किसी वस्तु, व्यक्ति या स्थिति के संयोग में संकल्प-विकल्प करना, दुखी होना, शारीरिक वेदना से व्याकुल होना और भविष्य में अनुकूल संयोगों की वांछा करना ऐसे पाप हैं, ध्यान हैं; जो हमें निगोद में भी पहुँचा सकते हैं।

इसीप्रकार जब हम किसी के विनाश या विपत्ति को देखकर आनन्दित होते हैं, झूठ बोलकर आनन्दित होते हैं, इन्कमटेक्स-सेल्सटेक्स आदि की चोरी करके आनन्दित होते हैं, परिग्रह को जोड़कर आनन्दित होते हैं; तब भी क्या हम यह सोच पाते हैं कि हमारी यह वृत्ति-प्रवृत्ति रौद्रध्यान है; जो नरकगति का कारण है।

भले ही हमने किसी को न मारा हो, मारनेवाला आंतकवादी भी क्यों न हो, पर उसकी मौत के समाचार सुनकर आनन्दित होना हिंसानन्दी रौद्रध्यान है। इसीप्रकार हमने झूठ न बोला हो, चोरी नहीं की हो, पैसा भी न्यायपूर्वक ही क्यों न कमाया हो; तब भी यदि हम उक्त कार्यों को देखकर, जानकर, उक्त संयोगों को पाकर आनन्दित होते हैं तो हमारे वे आनन्दरूप परिणाम क्रमशः मृषानन्दी, चौर्यानन्दी और परिग्रहानन्दी रौद्रध्यान हैं; जो हमें सीधे नरक में ले जा सकते हैं।

हम घर के एकान्त में बैठे-बैठे टी.वी. देख रहे हैं। उसमें खलनायक की पिटाई देखकर खिल-खिलाकर हंस पड़ते हैं; किसी झूठ पर हंस पड़ते हैं, **चोरी देखकर या शेयरों के भाव चढते देखकर प्रमुदित हो उठते हैं; तब क्या आपको ऐसा लगता है कि हम कोई पाप कर रहे हैं?**

आप तो यही सोचते हैं कि हम एकदम शान्त बैठे हैं, किसी का भला-बुरा कुछ भी नहीं कर रहे हैं; किन्तु आपको पता होना चाहिये कि आप रौद्रध्यान कर रहे हैं; जो आपको नरक में ले जा सकता है।

कुछ लोग कहते हैं कि हमारा दिल तो बहुत कमजोर है, जब कोई भावुक दृश्य आता है तो हमारी आंखों में आंसू आ जाते हैं। हिंसादि के दृश्य तो हमसे देखे भी नहीं जाते। वे ऐसा मानते हैं कि हम तो बहुत

धर्मात्मा हैं, पर भाईसाहब ! आपका यह रोना-धोना आर्तध्यान है, जो आपको न केवल पशुगति में ले जा सकता है, निगोद का कारण भी बन सकता है।

यद्यपि जिनागम का अध्ययन-अध्यापन स्वाध्याय नामक तप है; आज्ञाविचय, अपायविचय विपाकविचय और संस्थानविचय नामक धर्मध्यान है; तथापि हम जब पुराण पढ रहे होते हैं, **प्रथमानुयोग का स्वाध्याय कर रहे होते हैं; तब जिन्हें हम इष्ट समझते हैं, उन्हें होनेवाली प्रतिकूलताओं में दुखी होना भी आर्तध्यान ही तो है।**

इसीप्रकार जो हमें ठीक नहीं लगते, उनके वध-बंधन में प्रमुदित होना भी तो हिंसानदी रौद्रध्यान ही है। रावण या दुर्योधन के वध में आनन्दित होना भी तो रौद्रध्यान का ही एक रूप है।

जो प्रथमानुयोग के शास्त्र वैराग्य के निमित्त हैं; हम अपने अज्ञान से उन्हें पढकर भी आर्त-रौद्रध्यानरूप परिणमित होते हैं।

आप कह सकते हैं कि इसप्रकार तो देव-शास्त्र-गुरु के वियोग में दुखी होना भी आर्तध्यान में आयेगा ?

यह तो आप जानते ही हैं कि ये इष्टवियोगज और अनिष्टसंयोगज जैसे आर्तध्यान छटवें गुणस्थान तक नग्न दिगम्बर भावलिंगी मुनिराजों को भी होते हैं। उनके तो तीर्थंकरों के वियोग, अपने गुरुओं के वियोग, शिष्यों के वियोग में होनेवाले दु:खी परिणाम ही आर्तध्यानरूप होंगे; क्योंकि अन्य कोई तो उन्हें इष्ट होता ही नहीं है।

प्रश्न – क्या उनका यह आर्तध्यान भी तिर्यंचगति का कारण होगा ?

उत्तर – नहीं, कदापि नहीं। यह तो हम पहले लिख चुके हैं कि **अज्ञानियों के आर्त-रौद्रध्यान क्रमश: तिर्यंच व नरकगति के कारण हैं; ज्ञानियों के नहीं। यह तो जिनागम में स्पष्ट ही है कि सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीव नरक व तिर्यंच गति में नहीं जाते।**

रत्नकरण्डश्रावकाचार में स्वामी समन्तभद्राचार्य लिखते हैं –

सम्यग्दर्शनशुद्धाः नारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रीत्वानि।
दुष्कुलविकृताल्पायुः दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः ।।[१]

जो जीव सम्यग्दर्शन से शुद्ध हैं, वे यदि व्रत रहित हों, तब भी नरक और तिर्यंचगति में नहीं जाते, स्त्री व नपुंसक नहीं होते, दुष्कुल में पैदा नहीं होते, विकृत शरीरवाले नहीं होते, अल्पायु नहीं होते और दरिद्री भी नहीं होते।

प्रश्न – आपने कहा कि अज्ञानियों के आर्त-रौद्रध्यान संसार के कारण हैं, तिर्यंच व नरकगति के कारण हैं और अज्ञानियों के धर्मध्यान व शुक्लध्यान होते नहीं हैं। उक्त कथनानुसार तो सभी अज्ञानियों को तिर्यंच और नरकगति में ही जाना चाहिए; पर हमने तो शास्त्रों में पढा है कि अज्ञानी द्रव्यलिंगी मुनि नववें ग्रैवेयक तक जाते हैं।

उत्तर – अरे भाई ! **नौ ग्रैवेयक भी तो संसार में ही हैं।** आर्त और रौद्रध्यानवाले सभी अज्ञानी नरक व तिर्यंच गति में ही जाते हैं – यह बात नहीं है; क्योंकि फिर तो उनका चतुर्गति परिभ्रमण भी संभव नहीं होगा। अभव्य भी तो चारों गतियों में परिभ्रमण करता है।

जिस समय आर्त-रौद्रध्यान तिर्यंच और नरक आयुकर्म के बंध के योग्य तीव्रता में होते हैं; उसी समय तिर्यंच व नरक आयु का बंध होता है। इसी अपेक्षा से उन्हें तिर्यंच व नरकगति का कारण कहा गया है।

दु:खरूप आर्तध्यान और आनन्दरूप रौद्रध्यान के संदर्भ में आप कह सकते हैं कि गजब हो गया – हंसे तो पाप और रोयें तो पाप, आखिर हम करें तो करें क्या ?

अरे भाई ! धर्म तो वीतराग भाव का नाम है, सहज ज्ञाता-दृष्टा भाव का नाम है; इस जगत में सहज भाव से जो कुछ भी देखने-जानने में आवे; उसे सहज वीतराग भाव से जान लें; देख लें – यही आत्मधर्म है, सुख-शान्ति प्राप्त करने का तो एकमात्र यही उपाय है।

---

१. रत्नकरण्डश्रावकाचार, छन्द ३५

इन बातों पर तो किसी का ध्यान है नहीं, हो भी कैसे ? क्योंकि ये आर्तध्यान और रौद्रध्यान भी ध्यान हैं – एक तो इस बात का पता ही नहीं है, दूसरे यदि शास्त्रों में पढ भी लिया है, विद्वानों से सुन भी लिया है तो भी अन्दर से ऐसा आभास (फील) ही नहीं हुआ कि ये भी ध्यान हैं।

जब भी ध्यान करने की बात चलती है तो पद्मासन से बैठ जायें, रीढ की हड्डी को सीधी रखें, आती-जाती सांसों को देखें – ऐसी बातें ही होती हैं। पर भाई ! **ये तो सब जड़ शरीर की क्रियायें हैं; इनसे आत्मा के ध्यान का क्या संबंध हो सकता है?**

जब ध्यान से लाभ की बात आयेगी तो यही कहा जायेगा कि इससे रक्तचाप ठीक हो जाता है, मधुमेह में लाभ होता है, नाड़ी संस्थान भी स्वस्थ हो जाता है आदि न जाने कितने लाभ गिनाये जायेंगे; कहा जायेगा करके तो देखिये छह माह में आपका कायापलट हो जायेगा, आप घोड़े जैसे दौड़ने लगेंगे।

जैनधर्म में जिस ध्यान के गीत गाये गये हैं, उसका फल काया से मुक्त होना है या कायापलट करना? अरे भाई ! मृत्यु होने पर काया तो बदल ही जाती है, असली कायापलट तो हो ही जाता है। घोड़े से दौड़कर क्या आदमी से घोड़ा बनना है?

जिस धर्म में यह कहा गया हो कि –

जीवोऽन्य पुद्गलश्चान्य इत्यसौ तत्त्वसंग्रहः।
यदन्यदुच्यते किञ्चित्सोऽसु तस्यैव विस्तरः।।[१]

(दोहा)

देह जुदा आतम जुदा यही तत्त्व का सार।
बाकी जो कुछ और है याही का विस्तार।।

क्या उस धर्म में, धर्मध्यान में देह को ही संभालते रहना, उसकी चिन्ता में ही मग्न रहना; धर्म हो सकता है ?

---

१. आचार्य पूज्यपाद : इष्टोपदेश, छन्द ५०

छहढाला में साफ-साफ लिखा है –

देह-जीव को एक गिने बहिरातम तत्त्वमुधा है।

शरीर और आत्मा को एक मानना बहिरात्मपन (मिथ्यात्व) है। शरीर और आत्मा को एक माननेवाले तत्त्व के संदर्भ में मूर्ख हैं, मिथ्यादृष्टि हैं।

जो ध्यान विदेही होने के लिए था, आज वह देह को ठीक कर रहा है, देह की संभाल कर रहा है; जिस ध्यान में देह-देवल में विराजमान, पर देह से भिन्न भगवान आत्मा का ध्यान करना अभीष्ट था, **आज उसी ध्यान में देह का ध्यान रखने का पाठ पढाया जा रहा है।**

३. धर्म सहित ध्यान को धर्मध्यान कहते हैं। धर्म माने वस्तु का स्वभाव और ध्यान माने एकाग्रता, **वस्तुस्वभाव की ओर एकाग्रता ही धर्मध्यान है।** यह धर्मध्यान भी चार प्रकार का है –

आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय।

१. आज्ञाविचय – आगम की आज्ञा के अनुसार श्रद्धापूर्वक गहन विचार करना आज्ञाविचय नामक धर्मध्यान है। बहुत से विषय ऐसे हैं; जिन्हें सीधे जानना संभव नहीं है। जैसे जमीकंद में अनंत जीव हैं – इस बात का निर्णय जिनागम के आधार से ही हो सकता है; क्योंकि वे जीव इतने सूक्ष्म है कि उन्हें इन्द्रियप्रत्यक्ष से जानना संभव नहीं है।

२. अपायविचय – मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र संसार के कारण होने से मुक्तिमार्ग के अपाय (विरोधी) हैं, अज्ञानी जीव इस अपाय से कैसे बचें – इस बात का प्रबल चिन्तन अपायविचय नामक धर्मध्यान है।

इस धर्मध्यान का दूसरा नाम उपायविचय भी है; क्योंकि इसमें मुक्ति प्राप्त करने के उपाय का भी गंभीर चिन्तन होता है, मुक्ति के उपायरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का विचार होता है। उक्त के संदर्भ में किया गया गहन तत्त्वविचार ही अपायविचय या उपायविचय नामक धर्मध्यान है।

३. विपाकविचय – कर्मों के विपाक के संदर्भ में विचार करना विपाकविचय नामक धर्मध्यान है। कौन से कर्म का विपाक या उदय कब

होता है, उसका क्या फल है आदि सम्पूर्ण कर्मविषयक गहरा चिन्तन इस विपाकविचय नामक धर्मध्यान में आता है।

४. संस्थानविचय – जिनागम में प्रतिपादित लोक का क्या आकार है ? ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और मध्यलोक की रचना आदि जैनधर्म संबंधी भूगोल का विचार संस्थानविचय नामक धर्मध्यान है।

जिनागम के आधार पर प्राप्त जानकारी के अनुसार उक्त सभीप्रकार के चिन्तन विकल्पात्मक होने से व्यवहार धर्मध्यान है। **निश्चय धर्मध्यान तो देशनालब्धिपूर्वक जाने हुए निज भगवान आत्मा का अवलोकन करना, जानना और उसी में उपयोग को एकाग्र करना है।**

विशेष विचार करने की बात यह है कि शुक्लध्यान पंचमकाल में किसी को भी तथा गृहस्थों को चौथे काल में भी नहीं होता और आर्तध्यान व रौद्रध्यान करने योग्य नहीं हैं। **अब बचा मात्र धर्मध्यान, जो इस पंचमकाल में ज्ञानी सम्यग्दृष्टि गृहस्थों के भी संभव है;** मिथ्यादृष्टियों को धर्मध्यान नहीं होता।

आज जब भी ध्यान की चर्चा चलती है, तब उक्त आज्ञाविचय आदि चार प्रकार के धर्मध्यानों की तो बात ही नहीं होती तथा यह धर्मध्यान सम्यग्दृष्टियों को ही होता है – इस बात पर भी ध्यान नहीं दिया जाता।

उक्त चारों प्रकार के धर्मध्यानों की विषयवस्तु की ओर ध्यान दें तो एक बात स्पष्ट होती है कि **जिनागम के अध्ययन बिना धर्मध्यान संभव ही नहीं है; क्योंकि जिनाज्ञा जाने बिना आज्ञाविचय धर्मध्यान कैसे होगा? सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप मुक्तिमार्ग को समझे बिना अपायविचय धर्मध्यान संभव नहीं है। इसीप्रकार जिसमें कर्मसिद्धान्त और त्रिलोक की रचना का निरूपण है, उस करणानुयोग के ग्रन्थों के अभ्यास बिना विपाकविचय और संस्थानविचय धर्मध्यान कैसे होंगे ?**

क्या ध्यान का अभ्यास करानेवाले जिनागम की उक्त विषयवस्तु से परिचित हैं? यदि हैं तो भी क्या वे ध्यानार्थियों को उक्त विषयों का अध्ययन कराते हैं ? नहीं तो फिर यह कैसा धर्मध्यान है ?

यदि निश्चय धर्मध्यान की बात करें तो निश्चय धर्मध्यान में जिस भगवान आत्मा का ध्यान किया जाता है; उस भगवान आत्मा के स्वरूप को जानना आवश्यक है। आचार्य कुन्दकुन्दकृत समयसार में शरीरादि परपदार्थों से भिन्न, अपने में उत्पन्न होनेवाले रागादि विकारीभावों से अन्य, विकारी-अविकारी समस्त पर्यायों से पार और गुणभेद से भी भिन्न जिस आत्मा की चर्चा है; **निश्चय धर्मध्यान और शुक्लध्यान का ध्येय तो वह भगवान आत्मा है। ध्यान करने की प्रेरणा देने के पहिले क्या उस भगवान आत्मा का स्वरूप समझना-समझाना आवश्यक नहीं है?**

जिस ध्यान से केवलज्ञान की प्राप्ति होती है, जो साक्षात् धर्मस्वरूप है; उस ध्यान को समझने-समझाने के लिये ध्यान, ध्याता, ध्येय और ध्यान का फल जानना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है।

ध्याता तो चौथे गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान तक के जीव हैं। ध्येय उक्त ज्ञानानन्दस्वभावी त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा है। ध्यान उक्त त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा में उपयोग का स्थिर होना है और ध्यान का फल अतीन्द्रियानन्द की प्राप्ति है, मोह-राग-द्वेष से मुक्त होना है।

आज होनेवाले ध्यान में ये सब बातें दूर-दूर तक भी दिखाई नहीं देतीं।

उक्त चार बातों में सबसे पहले सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात ध्याता और ध्येय को समझना है। यह ऊपर कहा ही जा चुका है कि ध्याता सम्यग्दृष्टि जीव ही होते हैं। वर्णादि और रागादि से भिन्न जिस निजरूप भगवान आत्मा में आत्मानुभूतिपूर्वक अपनापन स्थापित होने का नाम सम्यग्दर्शन है; वही निजरूप भगवान आत्मा ध्यान का ध्येय होता है। अतः यह सुनिश्चित ही है कि **सम्यग्दर्शन की प्राप्ति और ध्यान करने के लिए उक्त श्रद्धेय व ध्येय आत्मा को जानना अत्यन्त आवश्यक है।**

इसका भाव यह है कि उक्त भगवान आत्मा न केवल श्रद्धेय और ध्येय ही है; अपितु परमज्ञेय भी वही है; क्योंकि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-

चारित्ररूप मोक्षमार्ग की प्राप्ति उक्त भगवान आत्मा के ज्ञान, श्रद्धान और ध्यान (चारित्र) से ही संभव है।

अतः कक्षायें या शिविर तो उस भगवान आत्मा को सही रूप में समझने-समझाने के लिए लगाना आवश्यक है; न कि ध्यान सिखाने के लिए, ध्यान का अभ्यास कराने के लिए। सम्यग्दर्शन के बिना ध्यान कैसे होगा और ध्येय का सम्यक् निर्णय हुए बिना ध्यान किसका होगा?

ध्यान करने का अभ्यास करने की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि ध्यान तो हम निरन्तर करते ही हैं। पत्नी पति का और पति पत्नी का ध्यान रखते ही हैं। डॉक्टर मरीजों का, दुकानदार ग्राहकों का, यहाँ तक कि मजदूर अपने काम का ध्यान रखते ही हैं। यदि ड्राइवर गाड़ी चलाते समय ध्यान न रखे तो क्या होगा – इसकी कल्पना की जा सकती है।

अरे, भाई ! ध्यान के बिना तो एक कप चाय भी नहीं बन सकती। यदि ध्यान नहीं रखा जायेगा तो चूले पर चढा दूध उबल सकता है, तवे पर पड़ी रोटी जल सकती है। कहाँ तक कहें ध्यान के बिना तो इस जगत में कोई भी काम नहीं होता। यही कारण है सभी लोग अपने-अपने काम का ध्यान रखते ही हैं। अतः सभी को ध्यान रखने का, ध्यान करने का अभ्यास तो है ही। **आवश्यकता ध्यान के अभ्यास करने की नहीं, ध्येय को बदलने की है, निज आत्मरूप ध्येय को समझने की है।**

ध्येय का निर्णय होने पर, उसमें अपनापन आ जाने पर, उसकी तीव्रतम रुचि जाग्रत हो जाने पर, उसे पाने की तड़प उत्पन्न हो जाने पर; उसका ध्यान तो सहज ही होता है, उस पर से ध्यान हटता ही नहीं है। इसीलिए तो कहा गया है कि **ध्यान यत्नसाध्य नहीं, सहजसाध्य है।**

एक महाविद्यालय में छात्र और छात्राएँ साथ-साथ अध्ययन करते थे। एक छात्र और एक छात्रा में परस्पर स्नेह हो गया। समान लोगों का सतत् सम्मिलन एक-दूसरे को आकर्षित करता ही है। परिचय को प्रेम में बदलते देर नहीं लगती। हुआ भी ऐसा ही। उन दोनों ने जीवन में पति-

पत्नी के रूप में साथ-साथ रहने का संकल्प कर लिया, कसमें खा ली कि शादी करेंगे तो आपस में ही करेंगे; अन्यथा...। कसमें तो खा लीं, पर अपने इस संकल्प को अपने-अपने माँ-बाप को बताने का साहस न जुटा सके और दिन-रात यों ही बीतने लगे।

यद्यपि इस बात की चर्चा उन्होंने किसी से भी नहीं की; तथापि **'चंचल नैन छुपें न छुपाये'** की नीति के अनुसार बात छुपी न रह सकी; उनके माँ-बाप तक भी यह बात पहुँच ही गई।

माँ-बाप समझदार थे। वे यह अच्छी तरह जानते थे कि यदि हमने कुछ किया तो होने-जाने वाला तो कुछ है नहीं; हाँ, हम खलनायक अवश्य बन जायेंगे। न केवल इसलिए, अपितु जोड़ा भी तो श्रेष्ठ था; अत: उनके चित्त को भी यह बात सहज स्वीकृत हो गई।

लड़के के पिता ने लड़के को बुलाकर कहा – "सुनो, जरा ध्यान से सुनो; हमने तुम्हारी शादी करने का निर्णय लिया है। हम चाहते हैं कि इसी वर्ष तुम्हारी शादी हो जावे।"

पिता से शादी के प्रस्ताव की बात सुनकर भी पुत्र अपने हृदय की बात न कह सका और कहने लगा – "अभी मैंने शादी के बारे में सोचा नहीं है। अभी तो पढाई पूरी करनी है, उसके बाद काम पर भी तो लगना है। उसके बाद.....।"

वह अपनी बात पूरी ही न कर पाया कि पिता ने कहा – "हमने अमुक व्यक्ति की अमुक लड़की से तुम्हारी शादी करने की बात सोची है।"

जिसे वह जी-जान से चाहता था, पिता के मुख से उसी का नाम सुनकर वह हक्का-बक्का रह गया; उसके मुख से कुछ भी न निकला।

पिता ने अपनी बात को आगे बढाते हुए कहा – "मैं चाहता था कि तुम भी उसे देख लो, मिल लो; मुझे विश्वास है, तुम्हें वह पसन्द आयेगी।"

अभी-अभी उसने शादी करने से इन्कार किया था – यह बात न जाने कहाँ चली गई और वह अत्यन्त विनम्रता से कहने लगा –

"जब आपने देख लिया है तो मुझे क्या देखना ? आपकी अनुभवी दृष्टि के सामने मैं समझता भी क्या हूँ ? आप जो कुछ भी करेंगे, वह ठीक ही होगा।"

वह अपनी बात पूरी भी न कर पाया था कि पिताजी कहने लगें – "ये तो ठीक है, पर एक निगाह तुम भी डाल लेते तो ठीक रहता।..."

"नहीं, नहीं; मुझे कुछ भी नहीं देखना है" जब पुत्र ने यह कहा तो पिताजी कहने लगे –

"सुनो, अभी दो-चार दिन में ही सगाई पक्की कर देंगे।"

"ठीक है।"

"ठीक है नहीं; पूरी बात सुनो। सगाई तो अभी कर देंगे, पर शादी चार माह बाद मई-जून में ही हो पायेगी।"

"ठीक है, जब आप ठीक समझें।"

"पर, हमारी एक शर्त है कि जबतक शादी न हो, तबतक तुम दोनों एक-दूसरे के घर के चक्कर नहीं लगावोगे।"

"ठीक है।"

"और भी सुनो, चिट्ठी-पत्री भी नहीं चलेगी।"

""ठीक है, ठीक है; कोई बात नहीं।"

"एक बात और भी है कि तबतक तुम एक-दूसरे के बारे में सोचोगे भी नहीं; एक-दूसरे को ध्यान में भी नहीं लाओगे; क्योंकि यदि तुम्हारा चित्त एक-दूसरे में उलझ कर रह गया तो पढाई-लिखाई चौपट हो जायेगी।"

व्यग्र होते हुये लड़का बोला – "जो भी हो, पर आपकी यह बात नहीं मानी जा सकती।"

"क्यों ?"

"क्योंकि यह बात हमारे हाथ में नहीं है। जिससे अपनापन हो जाता है, स्नेह हो जाता है, वात्सल्य हो जाता है, जिसके प्रति रुचि जाग्रत हो

जाती है; उसका ध्यान आये बिना नहीं रहता। प्रयत्न करने पर भी यह संभव नहीं है कि उसका ध्यान ही न आवें।''

उक्त कथा का सार मात्र इतना ही है कि जिसका परिचय हो, जिससे अपनापन हो, जिससे राग हो गया हो, स्नेह हो गया हो, जो अपना सर्वस्व लगने लगे; उसके प्रति तो सर्वस्व समर्पण हो ही जाता है, हो ही जाना चाहिए; उसका ध्यान करने के लिए प्रयत्न नहीं करना पड़ता। उसके लिए किसी प्रेरणा की आवश्यकता नहीं पड़ती, उसका प्रशिक्षण भी नहीं लेना पड़ता, सबकुछ सहज ही होता है।

अरे भाई! एक बार निज भगवान आत्मा को जानिये तो सही, पहिचानिये तो सही, उसमें अपनापन तो स्थापित कीजिए, उसकी रुचि तो जगाइये; फिर देखिये कि उसका ध्यान होता है कि नहीं? इसलिए मैं कहता हूँ कि ध्यान की कक्षायें लगाने की आवश्यकता नहीं है, उसका ध्यान करने की प्रेरणा देने की भी जरूरत नहीं है। **आवश्यकता मात्र अपने आत्मा को सही रूप में जानने की है, पहिचानने की है। अत: कक्षायें और शिविर आत्मा को समझने-समझाने के लिये ही लगाये जाने चाहिए।**

धर्मध्यान एक सहज प्रक्रिया है; जो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होने पर सहज भाव से प्रतिफलित होती है। **सामायिक ध्यान का ही एक रूप है; जो दिगम्बर परम्परा में प्रचलित भी है।** साधु-सन्तों के साथ व्रती-श्रावक भी प्रतिदिन सामायिक करते ही हैं।

दूसरी प्रतिमा में होनेवाले बारह व्रतों में सामायिक नाम का एक व्रत है। तीसरी प्रतिमा का तो नाम ही सामायिक प्रतिमा है। इसप्रकार हमारे यहाँ **सामायिक के रूप में ध्यान को समुचित स्थान प्राप्त है ही।**

व्यवहार धर्मध्यान चिन्तनात्मक होता है, विकल्पात्मक होता है और निश्चय धर्मध्यान चिन्तन के निरोधरूप निर्विकल्पक होता है। वस्तुत: बात यह है कि **चिन्तन ध्यान का प्रारंभिकरूप है। रुचि ध्यान की नियामक होने से चिन्तन की भी नियामक होती है।** जिसकी जिसे रुचि होती है, पहले उसके बारे में विकल्पात्मक चिन्तन चलता है; फिर रुचि

की तीव्रता में विकल्पात्मक चिन्तन निर्विकल्पक ध्यान में परिवर्तित हो जाता है। यह एक सहज प्रक्रिया है।

अनुप्रेक्षा (चिन्तन) और ध्यान में अन्तर स्पष्ट करते हुये आचार्य अकलंकदेव लिखते हैं :–

"स्यादेतदनुप्रेक्षाऽपि धर्म्मध्यानेऽन्तर्भवतीति प्रथगासामुपदेशोऽनर्थक इति; तन्न, किं कारणम्? ज्ञानप्रवृत्ति विकल्पत्वात्।

अनित्यादिविषयचिन्तनं यदा ज्ञानं तदानुप्रेक्षाव्यपदेशो भवति, यदा तत्रैकाग्रचिंतानिरोधस्तदा धर्म्मध्यानम्।[१]

अनुप्रेक्षाओं का धर्मध्यान में अन्तर्भाव हो जाने से, उनका पृथक् कथन करना उचित नहीं है – यदि कोई ऐसा कहे तो उसका कथन ठीक नहीं है; क्योंकि अनुप्रेक्षाएँ ज्ञानप्रवृत्तिविकल्परूप हैं।

अनित्यादि विषयों का चिन्तन जब ज्ञानरूप होता है, तब वह अनुप्रेक्षा कहलाता है और जब अनित्यादि विषयों में चित्त एकाग्र होता है, तब धर्मध्यान नाम पाता है।"

यदि हम उक्त कथन पर गंभीरता से विचार करें तो एक बात अत्यन्त स्पष्ट है कि निर्विकल्पक धर्मध्यान होने के पहले होनेवाली ज्ञानप्रवृत्ति-विकल्परूप अनुप्रेक्षा में शरीरादि संयोगों की अनित्यता, अशरणता, असारता, भिन्नता और अशुचिता आदि का चिन्तन होता है और जब विकल्परूप चिन्तन का निरोध होकर उसी विषयवस्तु में चित्त निर्विकल्परूप से एकाग्र हो जाता है तो वह धर्मध्यान नाम पाता है।

तात्पर्य यह है कि धर्मध्यान के पहले और धर्मध्यान में भी देहादि से विरक्ति के लिए उसकी अनित्यता, अशरणता, असारता और अशुचिता आदि का चिन्तन तो हो सकता है; पर **शरीरादि के पोषण का विकल्प, चिन्तन, ध्यान तो महा अनर्थ है, धर्मध्यान के विरुद्ध प्रवृत्ति है।**

ध्यान के नाम पर आज यही सबकुछ हो रहा है। ध्यान के नाम पर आत्मकल्याण और आत्मज्ञान व आत्मध्यान में लगनेवाली बुद्धि, शक्ति,

१. राजवार्तिक, अध्याय ९, सूत्र ३६, वार्तिक १३

साधन, समय – सभी कुछ असली धर्म के, ध्यान के, धर्मध्यान के विरोध में लग रहे हैं। क्या यह एक विचारणीय स्थिति नहीं है ?

बृहद्द्रव्यसंग्रह नामक ग्रंथ में ध्यान के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखा है –

मा चिट्ठह मा जंपह मा चिन्तह किं वि जेण होइ थिरो।
अप्पा अप्पम्मि रओ इणमेव परं हवे ज्झाणं।।[१]

(हरिगीत)

बोलो नहीं सोचो नहीं अर चेष्टा भी मत करो।
उत्कृष्टतम यह ध्यान है निज आतमा में रत रहो।।

हे भव्यजीवो ! कुछ भी चेष्टा मत करो, कुछ भी मत बोलो, कुछ भी चिन्तवन मत करो; जिससे आत्मा निजात्मा में तल्लीनरूप से स्थिर हो जावे; क्योंकि यही परमध्यान है।

इस गाथा में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि ध्यान करने के लिए कुछ भी करना अभीष्ट नहीं है; न मन से, न वचन से और न काय से; परन्तु आज जो ध्यान सिखाया जाता है, उसमें करना-करना ही होता है। मन में ऐसा सोचो, वाणी से ऐसा उच्चारण करो और काया से भी कुछ न कुछ करने को ही कहा जाता है।

यहाँ कोई कह सकता है कि मन-वचन-काय से कुछ नहीं करने के लिए भी तो मन-वचन-काय की क्रिया को रोकना होगा, रोकने का काम तो करना ही होगा। यह भी तो करना ही हुआ न ? हम भी तो यही कहते हैं कि शरीर स्थिर रखो, उसे हिलने-डुलने न दो, मौन से रहो और मन को स्थिर करो। इसमें क्या गलत हो गया ?

अरे भाई ! यदि मन-वचन-काय की संभाल करते रहेंगे तो फिर आत्मा का ध्यान कैसे होगा ? ध्यान तो मन-वचन-काय को संभालने में ही लगा रहेगा। **अभी तक शरीरादि हिलाने-डुलाने का काम करता था, अब शरीर हिले नहीं – यह करना होगा। अभी तक बोलने में उपयोग**

१. बृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा ५६

रहता था, अब नहीं बोलने में रहेगा। अबतक कुछ न कुछ सोचता रहता था, अब सोचना बन्द करने की सोचेगा। आत्मा को मन-वचन-काय की क्रिया से छुट्टी तो मिली ही नहीं; वह आत्मा को कब जानेगा, उसके ध्यान का ध्येय आत्मा कब बनेगा ?

हम तो यह कहते हैं कि मन-वचन-काय का कुछ भी मत करो, वाणी के संबंध में भी कुछ न करो, यहाँ तक कि काय व वचन के बारे में सोचो भी मत; ज्ञान को कहीं भी मत उलझाओ। यदि ऐसा हुआ तो **ज्ञान आत्मा में सहज ही लग जावेगा; उसे जानेगा, जानता रहेगा, लगातार जानता रहेगा – इसी का नाम तो ध्यान है।**

इस गाथा की संस्कृत टीका में ब्रह्मदेव जो कुछ भी लिखते हैं; उसका भावानुवाद इसप्रकार है –

"हे विवेकी पुरुषो ! तीन योगों के निरोध से यह आत्मा अपने में स्थिर होता है; इसलिए नित्य निरंजन और निष्क्रिय ऐसे निज शुद्धात्मा की अनुभूति को रोकनेवाले शुभाशुभ चेष्टारूप कायव्यापार, शुभाशुभ अंतर्बहिर्जल्परूप वचनव्यापार और शुभाशुभ विकल्पजालरूप चित्तव्यापार को किंचित् भी मत करो।

जो आत्मा सहजशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावी परमात्मतत्त्व के सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-आचरणरूप अभेदरत्नत्रयात्मक परमसमाधि से उत्पन्न, सर्व प्रदेशों में आनंद उत्पन्न करनेवाले सुख के आस्वादरूप परिणतिसहित निजात्मा में रत-परिणत-तल्लीन-तच्चित्त-तन्मय होता है; उस आत्मा का वह सुखस्वरूप में तन्मयपना ही निश्चय से परम अर्थात् उत्कृष्ट ध्यान है। उस परमध्यान में स्थित जीवों को **जिस वीतराग परमानन्दरूप सुख का प्रतिभास होता है, वही निश्चयमोक्षमार्गस्वरूप है।**

वह अन्य किस-किस पर्यायवाची नामों से कहा जाता है, वही कहते हैं – वही शुद्धात्मस्वरूप है, वही परमात्मस्वरूप है, वही एकदेश-प्रगटतारूप विवक्षितएकदेशशुद्धनिश्चयनय से स्वशुद्धात्मा के संवेदन से उत्पन्न सुखामृतरूपी जल के सरोवर में रागादिमल रहित होने के कारण

परमहंसस्वरूप है। इस एकदेश व्यक्तिरूप शुद्धनय के व्याख्यान को परमात्मध्यानभावना की नाममाला में यथासंभव सर्वत्र जोड़ना।

वही परब्रह्मस्वरूप है, वही परमविष्णुस्वरूप है; वही परमशिवस्वरूप है, वही परमबुद्धस्वरूप है, वही परमजिनस्वरूप है, वही परमस्वात्मोपलब्धिलक्षण सिद्धस्वरूप है, वही निरंजनस्वरूप है, वही निर्मलस्वरूप है, वही स्वसंवेदनज्ञान है, वही परमतत्त्वज्ञान है, वही शुद्धात्मदर्शन है, वही परमावस्थास्वरूप है, वही परमात्मा का दर्शन है, वही परमात्मा का ज्ञान है, वही परमावस्थास्वरूप परमात्मा का स्पर्शन है, वही ध्येयभूत-शुद्धपारिणामिकभावरूप है, वही ध्यानभावनास्वरूप है, **वही शुद्धचारित्र है, वही परमपवित्र है, वही अंतःतत्त्व है, वही परमतत्त्व है, वही शुद्धात्मद्रव्य है, वही परमज्योति है, वही शुद्ध आत्मा की अनुभूति है, वही आत्मा की प्रतीति है, वही आत्मा की संवित्ति है, वही स्वरूप की उपलब्धि है, वही नित्यपदार्थ की प्राप्ति है, वही परमसमाधि है, वही परमानन्द है, वही नित्यानन्द है, वही सहजानन्द है, वही सदानन्द है, वही शुद्धात्मपदार्थ के अध्ययन रूप है, वही परमस्वाध्याय है,** वही निश्चय मोक्ष का उपाय है, वही एकाग्रचिन्तानिरोध है, वही परमबोध है, वही शुद्धोपयोग है, वही परमयोग है, वही भूतार्थ है, वही परमार्थ है, वही निश्चय पंचाचार है, वही समयसार है, वही अध्यात्मसार है, वही समता आदि निश्चयषड्‌आवश्यक स्वरूप है, वही अभेदरत्नत्रयस्वरूप है, वही वीतराग सामायिक है, वही परम शरण-उत्तम-मंगल है, वही केवलज्ञान की उत्पत्ति का कारण है, वही समस्त कर्मों के क्षय का कारण है, वही निश्चय चतुर्विध आराधना है, वही परमात्मा की भावना है, **वही शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न सुख की अनुभूति परमकला है, वही दिव्यकला है, वही परम अद्वैत है, वही परम अमृतरूप परमधर्मध्यान है,** वही शुक्लध्यान है, वही रागादिविकल्परहित ध्यान है, वही निष्कल ध्यान है, वही परमस्वास्थ्य है, वही परमवीतरागपना है, वही परमसाम्य है, वही परमएकत्व है, वही परमभेदज्ञान है, वही परमसमरसीभाव है; इत्यादि समस्त रागादि विकल्प-उपाधि से रहित

परम आह्लादरूप एक सुख जिसका लक्षण है, ऐसे ध्यानरूप निश्चय-मोक्षमार्ग के वाचक अन्य भी पर्यायवाची नाम परमात्मतत्त्व के ज्ञानियों द्वारा जाननेयोग्य हैं।[१]"

जैनदर्शन में जिस ध्यान के गीत गाये हैं, वह तो यही निश्चयधर्मध्यान है, जिसे जिनागम में उक्त नामों से पुकारा जाता है।

उक्त स्वरूपाचरण या शुद्धोपयोगरूप ध्यान की चर्चा छहढाला नामक ग्रन्थ में पण्डित दौलतरामजी इसप्रकार करते हैं-

(हरिगीतिका)

जिन परम पैनी सुबुधि छैनी, डारि अन्तर भेदिया।
वरणादि अरु रागादि तैं, निज भाव को न्यारा किया।।
निज माहिं निज के हेतु, निज कर आपको आपै गह्यौ।
गुण-गुणी ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय, मँझार कछु भेद न रह्यौ।।
जहँ ध्यान-ध्याता-ध्येय को, न विकल्प वच-भेद न जहाँ।
चिद्भाव कर्म चिदेश कर्ता, चेतना किरिया तहाँ।।
तीनों अभिन्न अखिन्न शुध, उपयोग की निश्चल दसा।
प्रगटी जहाँ दृग-ज्ञान-व्रत, ये तीनधा एकै लसा।।
परमाण-नय-निक्षेप को, न उद्योत अनुभव में दिखै।
दृग-ज्ञान-सुख बलमय सदा, नहिं आन भाव जु मो विषै।।
मैं साध्य-साधक मैं अबाधक, कर्म अरु तसु फलनि तैं।
चित्पिण्ड चण्ड अखण्ड सुगुणकरण्ड, च्युति पुनि कलनि तैं।।
यों चिन्त्य निज में थिर भये, तिन अकथ जो आनन्द लह्यौ।
सो इन्द्र नाग नरेन्द्र वा, अहमिन्द्र के नाहीं कह्यौ।।
तब ही शुक्ल ध्यानाग्नि करि, चउ घाति विधि कानन दह्यौ।
सब लख्यौ केवलज्ञान करि, भविलोक कों शिवमग कह्यौ।।[२]

उक्त चार छन्दों में स्वानुभूति, स्वरूपाचरण या शुद्धोपयोगरूप ध्यान की सम्पूर्ण प्रक्रिया को अति संक्षेप में प्रस्तुत कर दिया गया है।

१. बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा ५६ की ब्रह्मदेव कृत संस्कृत टीका का भावानुवाद
२. छहढाला, छठवीं ढाल, छन्द ८-११

सबसे पहले तो जिन-अध्यात्म के अध्ययन से वर्णादि परपदार्थों और रागादि विकारीभावों से भिन्न निज भगवान आत्मा को भलीभांति जाने, पहिचाने; तदुपरान्त बुद्धिरूपी अत्यन्त तीक्ष्ण छैनी से, प्रज्ञाछैनी से वर्णादि और रागादि से भिन्न निजभावरूप भगवान आत्मा को भिन्न करे, भिन्न जाने, भिन्न अनुभव करे। **तात्पर्य यह है कि इन वर्णादि और रागादि से भिन्न अपने आत्मा में अपनापन करे, अपने आत्मा को निजरूप अनुभव करे।**

यह अनुभव करने का कार्य, स्वयं को ग्रहण करने का कार्य; अपने में ही होगा, अपने लिए ही होगा और अपने द्वारा ही होगा। जब ऐसा होगा, तब गुण-गुणी और ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय में कोई अन्तर ही नहीं रह जावेगा। ध्यान, ध्याता और ध्येय का विकल्प भी समाप्त हो जायेगा, वचनभेद भी न रहेगा; तब चैतन्यभाव ही कार्य होगा, चिदेश आत्मा ही कर्ता होगा और ज्ञान-दर्शन चेतना ही क्रिया होगी। कर्ता, कर्म, क्रिया का भेद भी नहीं रहेगा। तीनों अभिन्न हो जायेंगे, उसमें कोई खेद न रहेगा, खिन्नता न रहेगी – शुद्धोपयोगरूप निश्चल दशा प्रगट होगी और दर्शन-ज्ञान-चारित्र – ये तीन होकर भी एकरूप में ही शोभायमान होंगे।

जब समयसार में यह प्रश्न उपस्थित किया गया कि प्रज्ञाछैनी से अपने आत्मा को विभक्त करने की आपकी आज्ञा तो हमें स्वीकार है; पर उक्त **निज भगवान आत्मा को ग्रहण कैसे करें, ग्रहण करने का साधन क्या है, क्या** उसके लिए कुछ करना नहीं पड़ेगा, अन्य कोई साधन नहीं जुटाना पड़ेगा ? तब उत्तर दिया गया कि –

कह सो घिप्पदि अप्पा पण्णाए सो दु घिप्पदे अप्पा।
जह पण्णाइ विभत्तो तह पण्णाएव घेत्तव्वो।।[१]

(हरिगीत)

जिस भांति प्रज्ञा छैनी से पर से विभक्त किया इसे।
उस भांति प्रज्ञा छैनी से ही अरे ग्रहण करो इसे।।

---

१. समयसार गाथा २९६

अरे, भाई ! जिस प्रज्ञाछैनी से इस भगवान आत्मा को पर से भिन्न जाना है; उसी प्रज्ञाछैनी से ही अपने आत्मा का ग्रहण होगा, अनुभव होगा, ध्यान होगा; अन्य किसी साधन की कोई अपेक्षा नहीं है।

इसीप्रकार जिस विधि से पर से भिन्नता की गई है; उसी विधि से भगवान आत्मा का ग्रहण होगा, अन्य कोई विधि खोजने की आवश्यकता नहीं है, अन्य कोई प्रक्रिया अपनाने की आवश्यकता नहीं है।

अरे, भाई ! असली धर्म तो यही है, असली ध्यान तो यही है; असली धर्मध्यान तो यही है।

प्रश्न – आप कहते हैं कि ध्यान की कक्षायें चलाने की आवश्यकता नहीं है ? ध्यान के शिविर लगाने की भी आवश्यकता नहीं है। यदि ध्यान की कक्षायें नहीं चलायेंगे, ध्यान के शिविर नहीं लगायेंगे तो फिर लोग ध्यान करना सीखेंगे कैसे ?

उत्तर – कक्षायें ज्ञान की लगती हैं, ध्यान की नहीं; शिविर भी ज्ञान के चलाये जाने चाहिए, ध्यान के नहीं। पठन-पाठन की व्यवस्था तो मुनिसंघों में भी होती रही है और श्रावकों के लिए तो होती ही है, होनी भी चाहिए; परन्तु ध्यान के संदर्भ में ऐसी कोई परम्परा नहीं है।

भगवान महावीर से आजतक कभी कहीं कोई ध्यान करने की विधि सिखाने की बात पढने-सुनने में नहीं आई।

स्वयं में स्थिर हुए सम्यग्ज्ञान का नाम ध्यान है।[१] आत्मा के ज्ञान होने के उपरान्त ध्यान के लिए अलग कुछ सीखने की आवश्यकता नहीं रहती।

ध्यान तो एकदम व्यक्तिगत चीज है, उसके लिए तो एकदम शान्त-एकान्त स्थान चाहिए और शिविरों के लिए तो भीड़भाड़ ही चाहिए।

ध्यान करने के लिए तो हमारे सभी तीर्थंकर, गणधरदेव और साधुगण निर्जन, निर्जन्तु एकान्त वनखण्ड खोजते रहे हैं; पर्वत की चोटियों को चुनते रहे हैं। यही कारण है कि हमारे लगभग सभी सिद्धक्षेत्र, साधनाक्षेत्र

१. आचार्य अमितगति : योगसार प्राभृत, छन्द ४७०

पर्वत की चोटियों पर हैं। आखिर ये तीर्थक्षेत्र हैं क्या ? जहाँ बैठकर हमारे तीर्थंकरों ने, गणधरों ने, सन्तों ने आत्मसाधना की, आत्मा का ध्यान किया; उन स्थानों को ही तो तीर्थ कहते हैं। उक्त संदर्भ में लेखक की अन्य कृति **शाश्वत तीर्थधाम सम्मेदशिखर** का स्वाध्याय करना चाहिए।

ध्यान के सन्दर्भ में उक्त कृति में समागत निम्नांकित कथन दृष्टव्य है –

''जब यह बात कही जाती है तो एक प्रश्न फिर खड़ा हो जाता है कि हमारे तीर्थंकरों ने, हमारे सन्तों ने, आत्मसाधना के लिए ऐसे निर्जन स्थान ही क्यों चुने?

इसलिए कि हमारा धर्म वीतरागी धर्म है, आत्मज्ञान और आत्मध्यान का धर्म है। आत्मध्यान के लिए एकान्त स्थान ही सर्वाधिक उपयोगी होता है। जैसा एकान्त इन पर्वत की चोटियों पर उपलब्ध होता है, वैसा अन्यत्र कहीं भी नहीं।

कुछ लोग समझते हैं कि पर्वत की चोटी पर जेठ की दुपहरी में कठोर तपस्या करने से, शरीर को सुखाने से कर्मों का नाश होता है; पर इस बात में कोई दम नहीं है; क्योंकि **देह को सुखाने से कर्म नहीं कटते, कर्मों का नाश तो आत्माराधना से होता है, आत्मसाधना से होता है। आत्माराधना और आत्मसाधना आत्मज्ञान और आत्मध्यान के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।**

पर और पर्याय से भिन्न त्रिकाली ध्रुव निज भगवान आत्मा के जानने का नाम ही आत्मज्ञान है, सम्यग्ज्ञान है; उसमें ही अपनापन स्थापित होने का नाम सम्यग्दर्शन है और उसमें ही लीन हो जाने, समा जाने का नाम सम्यक्चारित्र है। **यह सम्यक्चारित्र वस्तुतः तो आत्मध्यानरूप ही होता है।** इसमें शरीर के सुखाने को कहीं कोई स्थान नहीं है।

यदि यह बात है तो फिर वही प्रश्न फिर उभर कर आता है कि हमारे तीर्थंकर और साधुजनों ने ऐसा स्थान और इतना प्रतिकूल वातावरण ध्यान के लिए क्यों चुना? हम देखते हैं कि सम्मेदशिखर के जिस स्थान से तीर्थंकरों ने मुक्ति प्राप्त की है; वहाँ कहीं-कहीं तो इतना भी स्थान नहीं है

कि कोई दूसरा व्यक्ति खड़ा भी हो सके। चोटियों को देखकर लगता है कि सभी स्थान लगभग ऐसे ही रहे होंगे। यह बात अलग है कि आज हमने अपनी सुविधा के लिए उन्हें कुछ इसप्रकार परिवर्तित कर दिया है कि जिससे कुछ लोग वहाँ एकत्रित हो जाते हैं।

वस्तुतः बात यह है कि हमारे सन्त ध्यान के लिए, बैठने के लिए भी ऐसा ही स्थान चुनते हैं कि जहाँ बगल में कोई दूसरा व्यक्ति बैठ ही न सके; क्योंकि बगल में यदि कोई दूसरा बैठेगा तो वह बात किए बिना नहीं रहेगा और वे किसी से बात करना ही नहीं चाहते हैं। **बातचीत पर से जोड़ती है और पर का सम्पर्क ध्यान की सबसे बड़ी बाधा है।**

एक तो कोई व्यक्ति पर्वत की इतनी ऊँचाई पर जायेगा ही नहीं, जायेगा भी तो जब उसे बगल में बैठने की जगह ही न होगी, तब बगल में बैठेगा कैसे? इसप्रकार पर्वत की चोटी पर उन्हें सहज ही एकान्त उपलब्ध हो जाता है।

इसीप्रकार वे तेज धूप में भी किसी वृक्ष की छाया में न बैठकर ध्यान के लिए पूर्ण निरावरण धूप में ही बैठते हैं। तपती जेठ की दुपहरी में यदि किसी सघन वृक्ष की छाया में बैठेंगे तो न सही कोई मनुष्य, पर पशु-पक्षी ही अगल-बगल में आ बैठेंगे। उनके द्वारा भी आत्मध्यान में बाधा हो सकती है। इस बाधा से बचने के लिए ही वे धूप में बैठते हैं, धूप से कर्म जलाने के लिए नहीं।[१]"

आज हम वातानुकूलित कक्षों में बैठकर सामूहिकरूप से ध्यान करने की बात करते हैं। क्या हमारे पूर्वपुरुषों के पास वातानुकूलित कक्ष नहीं थे? यदि थे, तो फिर वे ध्यान करने की लिए पर्वतों की चोटियों पर क्यों गये, भयंकर गर्मी और हड्डियों को गला देनेवाली सर्दी में नग्न दिगम्बर दशा में खुले आकाश में ध्यान करने क्यों बैठे?

इस पर कुछ लोग कहते हैं कि आप तो व्यर्थ ही आलोचना करते हैं। वातानुकूलित कक्ष में सर्दी-गर्मी की बाधा नहीं रहती और मक्खी-

१. शाश्वत तीर्थधाम सम्मेदशिखर पृष्ठ-१७-१८

मच्छरों का उपद्रव भी नहीं होता; अत: ध्यान करने में सुविधा रहती है, मन लग जाता है।

हमारे पूर्वजों के ध्यान को मक्खी-मच्छर तो क्या और सांप और शेर जैसे क्रूर पशु भी विखण्डित नहीं कर सके, उन्हें ध्यान से विचलित नहीं कर सके और हम मक्खी-मच्छर से भी विचलित होने लगे।

हमारे पूर्वज तो सर्दी-गर्मी से भी कभी विचलित नहीं हुए। उनके माथे पर तो सिगड़ी तक जला दी गई, पर वे तो अडिग ही रहे, पर हमें आत्मा का ध्यान करने के लिए भी वातानुकूलित कमरे चाहिए।

ध्यान को सीखने-सिखाने की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि जिस वस्तु में अपनापन आ जाता है, जिसके प्रति रुचि जाग्रत हो जाती है; उसका ध्यान तो सहज ही होता है। यदि हम चाहे भी कि हमें उसका ध्यान न आवे, तब भी हम उसके ध्यान से नहीं बच सकते।

प्रश्न – यह तो ठीक ही है कि ध्येय अर्थात् ध्यान करने योग्य पदार्थ तो एकमात्र त्रिकालीध्रुव निजभगवान आत्मा ही है; तथापि प्राथमिक अवस्था में अभ्यास के लिए तो किसी भी पर पदार्थ पर उपयोग केन्द्रित किया जा सकता है ?

उत्तर – नहीं, पर प्राथमिक अवस्था वालों के लिये तो बृहद्द्रव्यसंग्रह में यह लिखा है –

"प्राथमिकापेक्षया सविकल्पावस्थायां विषयकषायवञ्चनार्थं चित्त-स्थिरकरणार्थं पञ्चपरमेष्ठ्यादि परद्रव्यमपि ध्येयं भवति।

पश्चादभ्यासवशेन स्थिरीभूते चित्ते सति शुद्धबुद्धैकस्वभावनिज-शुद्धात्मस्वरूपमेव ध्येयमित्युक्तं भवति।[१]

प्राथमिक पुरुषों की अपेक्षा से सविकल्प अवस्था में विषय और कषाय दूर करने के लिये और चित्त को स्थिर करने के लिये पंचपरमेष्ठी आदि परद्रव्य भी ध्येय होते हैं।

तत्पश्चात् जब अभ्यास के वश से चित्त स्थिर हो जाता है; तब शुद्ध-बुद्ध-एक-स्वभावी निज शुद्धात्मा का स्वरूप ही ध्येय होता है।"

१. बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा ५५ की ब्रह्मदेव कृत संस्कृत टीका

उक्त कथन से यह अत्यन्त स्पष्ट है कि पंचपरमेष्ठी और उनके द्वारा प्रतिपादित जिनागम में प्रतिपादित वस्तुव्यवस्था भी धर्मध्यान का ध्येय (ध्यान देनेयोग्य) हो सकती है। आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचयरूप धर्मध्यानों की विषयवस्तु से यह बात सिद्ध होती है; परन्तु शारीरिक स्वास्थ्य के लिए किये गये प्रयासों को तो धर्मध्यान किसी भी रूप में नहीं माना जा सकता।

रयणसार में आचार्य कुन्दकुन्द लिखते हैं कि –

अज्झयणमेव झाणं, पंचेंदियणिग्गहं कसायं पि।
तत्तो पंचमकाले, पवयणसारब्भासमेव कुज्जाहो।।[१]

शास्त्रों का अध्ययन ही ध्यान है; क्योंकि उसी से पंचेन्द्रियों और कषायों का निग्रह होता है। इसलिए इस पंचमकाल में प्रवचनसार अर्थात् जिनागम का ही अभ्यास करना चाहिए।

इसप्रकार हम देखते हैं कि पंचमकाल में अर्थात् इस युग में तो विशेषकर गृहस्थों के लिए अध्ययन ही मुख्य है।

प्रश्न – ध्यान करने के लिए आसन कौनसा होना चाहिए।

उत्तर – उक्त सन्दर्भ में आचार्य जिनसेन लिखते हैं –

"ध्यान बैठकर, खड़े रहकर और लेटकर भी किया जा सकता है। शरीर की जो भी अवस्था ध्यान की विरोध करनेवाली न हो; उस अवस्था में अपनी सुविधानुसार ध्यान किया जा सकता है।

यदि किसी व्यक्ति की स्थिति खड़े होने या बैठने की न हो तो क्या वह आत्मध्यान से वंचित हो जायेगा ? नहीं, कदापि नहीं।[२]"

सभी ध्यानार्थी निज भगवान आत्मा का स्वरूप समझ कर, उसमें ही अपनापन स्थापित कर, उसमें ही जम जावें, रम जावें और अनन्त सुख-शान्ति प्राप्त करें – इसी मंगल भावना के साथ विराम लेता हूँ। ●

१. आचार्य कुन्दकुन्द : रयणसार, गाथा ९०
२. आचार्य जिनसेन : महापुराण, पर्व २१, छन्द ७५

मनीषियों की दृष्टि में :

• जिनागम के आलोक में ध्यान के स्वरूप को स्पष्ट करनेवाले डॉ. भारिल्ल की इस कृति को मैं ८० मिनट में एक बैठक में आद्यन्त पढकर मैं आत्मविभोर हो गया।

डॉ. भारिल्लजी की प्रज्ञाछैनी ने तत्त्वार्थसूत्र, द्रव्यसंग्रह, छहढाला जैसे जैनागमों को प्रमाण पुरस्सर एवं रोचक दृष्टान्तों से आत्मध्यान जैसे विषय को सभी स्तरीय पाठकों के लिए हस्तामलक रूप में प्रस्तुत किया है। सीधी-सरल भाषा में रचित यह कृति ध्यान के स्वरूप को सहज ही बोधगम्य और आत्मसात् करने योग्य है। विद्वान् लेखक का यह कथन समीचीन ही है कि **ध्यान यत्नसाध्य नहीं है, सहजसाध्य है; आवश्यकता ध्यान के अभ्यास की नहीं; ध्येय को बदलने की है, निजात्मरूप ध्येय को समझने की है।**

– डॉ. प्रेमचंद रांवका, पूर्वाचार्य, महा. सं. कॉलेज, जयपुर

• आज मैंने पूजनीय गुरुवर डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल की नई कृति **'ध्यान का स्वरूप : जिनागम के आलोक में'** को आद्योपान्त एक-एक अक्षर बहुत मन लगाकर पढा। मुझे बहुत अधिक आनन्द हुआ। **ध्यान के संबंध में इतनी अच्छी विवेचना आज अन्यत्र दुर्लभ है।**

ध्यान के संबंध में दुनिया में आज बहुत विकृतियाँ दिखाई दे रही हैं। मैं समझता हूँ कि इस कृति से ध्यान के संदर्भ में कुछ न कुछ परिमार्जन अवश्य होगा। अत: सभी को इस कृति को मन लगाकर बारम्बार पढना चाहिए; क्योंकि इसमें चारों प्रकार के ध्यान का शास्त्र सम्मत प्रामाणिक स्वरूप समझाया गया है।

– डॉ. वीरसागर जैन

अध्यक्ष, जैनदर्शनविभाग, श्री लालबहादुरशास्त्री राष्ट्रीयसंस्कृतविद्यापीठ, नई दिल्ली-१६

• प्रसन्नता की बात है कि प्रस्तुत कृति में समय की आवश्यकता को रेखांकित करते हुए डॉ. भारिल्ल ने ध्यान विषय पर महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत की है। तदर्थ वे बधाई के पात्र हैं।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि पाठकगण इस कृति के गंभीर अध्ययन से अपने जीवन व ज्ञान को अवश्य निर्मल करेंगे।

– डॉ. राजेन्द्र बंसल, अमलाई (म.प्र.)

• **जैनपथप्रदर्शक : फरवरी (प्रथम पक्ष) २००९**

ध्यान आज का बहुचर्चित विषय है। इस विषय पर एक ऐसी पुस्तक की आवश्यकता बहुत समय से अनुभव की जा रही थी; जो जिनागम के परिप्रेक्ष्य में इस विषय को आज के संदर्भ में प्रस्तुत कर सके। डॉ. भारिल्ल की प्रस्तुत कृति ने निश्चित रूप से उक्त आवश्यकता की पूर्ति की है। यदि लोग निष्पक्ष भाव से इस कृति का अध्ययन करेंगे तो ध्यान के संदर्भ में उनकी वर्तमान धारणाओं का परिमार्जन अवश्य होगा। **जो विषयवस्तु शताधिक पृष्ठों में प्रस्तुत करना भी एक दुष्कर कार्य था; उक्त विषयवस्तु को इस लघुकाय कृति में सर्वांग प्रस्तुत कर दिया गया है।** इस कृति का स्वाध्याय करने से ध्यान के संदर्भ में वर्तमान में चलने वाली बहुतसी भ्रान्तियों का निराकरण होगा। **– पण्डित रतनचंद भारिल्ल, सम्पादक**

• **समन्वयवाणी : फरवरी, प्रथम पक्ष, २००९**

ध्यान की चर्चा आज यत्र-तत्र सर्वत्र सुनने को मिलती है। जिनागम में भी चार प्रकार के ध्यानों की विस्तार से चर्चा आती है। डॉ. भारिल्लजी ने इस लघुकाय कृति में उनके भेद-प्रभेदों के विस्तार में न जाते हुए ध्यान के स्वरूप का शास्त्रोक्त मार्मिक व हृदयग्राही विवेचन किया है, जो अन्तस् को छू लेने वाला है।

– अखिल बंसल, सम्पादक

शुद्धात्मा के आश्रय से सच्चा धर्मध्यान आज भी होता है।

– आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी

शुद्धात्मा के आश्रय से सच्चा धर्मध्यान आज भी होता है। साक्षात् केवलज्ञान और मोक्ष जिससे होता है, ऐसा शुक्लध्यान आज नहीं होता, परन्तु जिससे शुद्ध सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट होते हैं – ऐसा निश्चय धर्मध्यान तो आज भी होता है।

आज धर्मध्यान का भी जो निषेध करता है, वह मोक्षमार्ग का भी निषेध करता है और आत्मा की शुद्धि का भी निषेध करता है।

भाई ! अपने आत्मा में उपयोग को जोड़। जिसप्रकार परविषयों को ध्येय बनाकर उनमें उपयोग को एकाग्र करता है; उसीप्रकार अपने आत्मा को अन्तर में ध्येय बनाकर स्वविषय में उपयोग को एकाग्र कर; इसप्रकार तुझे धर्मध्यान होगा।

इस धर्मध्यान से जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्धता प्रगट होती है; वह धर्म है, वह मोक्षमार्ग है।

हे भाई ! ऐसे मोक्षमार्ग को आज प्रारंभ कर देगा तो एकाध भव में पूरा हो जाएगा। यदि आज उसका निषेध करेगा और विषयों में प्रवर्तेगा तो तुझे मोक्षमार्ग कहाँ से होगा ?

चौथे काल में भी आत्मा में उपयोग की एकाग्रता के बिना मोक्षमार्ग नहीं होता था, उस काल में भी आत्मा में उपयोग की एकाग्रतारूप धर्मध्यान के द्वारा ही मोक्षमार्ग होता था और आज भी इस धर्मध्यान के द्वारा ही मोक्षमार्ग होता है।

– आत्मधर्म (गुजराती) वर्ष 24 अंक 12,
12 अक्टूबर 1970 से साभार

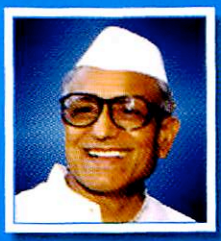

डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल का नाम आज जैन समाज के उच्च कोटि के विद्वानों में अग्रणीय है।

ज्येष्ठ कृष्णा अष्टमी वि. स. 1992 तदनुसार शनिवार, दिनांक 25 मई 1935 को ललितपुर (उ.प्र.) जिले के बरौदास्वामी ग्राम के एक धार्मिक जैन परिवार में जन्मे डॉ. भारिल्ल; शास्त्री, न्यायतीर्थ साहित्यरत्न तथा एम.ए., पी-एच.डी. हैं। समाज द्वारा विद्यावारिधि, महामहोपाध्याय, विद्यावाचस्पति, परमागमविशारद, तत्त्ववेत्ता, अध्यात्मशिरोमणि, वाणीविभूषण, जैनरत्न, बुन्देलखण्ड गौरव आदि अनेक उपाधियों से समय-समय पर आपको विभूषित किया गया है।

सरल, सुबोध, तर्कसंगत एवं आकर्षक शैली के प्रवचनकार डॉ. भारिल्ल आज सर्वाधिक लोकप्रिय आध्यात्मिक प्रवक्ता हैं। उन्हें सुनने देश-विदेश में हजारों श्रोता निरन्तर उत्सुक रहते हैं। आध्यात्मिक जगत में ऐसा कोई घर न होगा, जहाँ प्रतिदिन आपके प्रवचनों के कैसेट न सुने जाते हों तथा आपका साहित्य उपलब्ध न हो। धर्म प्रचारार्थ आप छब्बीस बार विदेश यात्रायें भी कर चुके हैं।

जैनजगत में सर्वाधिक पढ़े जाने वाले डॉ. भारिल्ल ने अब तक छोटी-बड़ी 72 पुस्तकें लिखी हैं और अनेक ग्रन्थों का सम्पादन किया है, जिनकी सूची अन्दर प्रकाशित की गई। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि अब तक आठ भाषाओं में प्रकाशित आपकी कृतियाँ 42 लाख से भी अधिक की संख्या में जन-जन तक पहुँच चुकी हैं।

सर्वाधिक बिक्री वाले जैन आध्यात्मिक मासिक 'वीतराग-विज्ञान' हिन्दी तथा मराठी के आप सम्पादक हैं। श्री टोडरमल स्मारक भवन की छत के नीचे चलने वाली विभिन्न संस्थाओं की समस्त गतिविधियों के संचालन में आपका महत्वपूर्ण योगदान है।

वर्तमान में आप श्री अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद के अध्यक्ष तथा पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर के महामंत्री हैं।